पानी पे लकीरें

किरण बुडकुले 'रश्मिरथी'

जैना पब्लिशर्स
जयपुर

प्रकाशक

जैना पब्लिशर्स

0-16 मालवीय मार्ग, मालन का चौराहा

सी-स्कीम, जयपुर 302001

आई.एस.बी.एन. : 81-87275-43-X

प्रथम संस्करण : 2009

© लेखक

लेजर टाइपसेटिंग व मुद्रक

नेहा ग्राफिक व रूचिका प्रिन्टर्स, जयपुर

All right reserved. No part of this work may be copied, adapted, abridged or translated, stored in any retrieval system, computer system, photographic or other system or transmitted in any form by any means whether electronic, mechanical, digital, optical, photographic or otherwise without a prior written permission of the copyright holders M/s Jaina Publisher's Jaipur.

This book is sold subject to the condition that it, or any part of it, shall not by way of trade or otherwise, be sold, re-sold, displayed, advertised, or otherwise circulated, without the publisher's prior written consent, in any form of binding, cover of title other than that in which it is published and without a similar condition including this condition being imposed on the subsequent purchaser (s).

Any breach of any of these rights or conditions will entail civil and criminal action without further notice.

While every effort has been made to avoid any mistake or omission, this publication is being sold on the condition and understanding that neither the author nor the publishers or printers would be liable in any manner to any person by reason of any mistake or omission in this publication or for any action taken or omitted to be taken on advice rendered or accepted on the basis of this work.

Rights of Publication reserved with the Publishers.

मनमंथन : सतह से स्त्रोत तक .....

मानव संस्कृति के उत्थान में जल और जीवन का अतूट रिश्ता रहा है। भौतिक सतह पर ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक स्तर पर भी यह संबंध तत्वचिंतकों तथा कवियों को सदियों से आकर्षित करता रहा है शायद इसलिए कि हमारी जीवनानुभूति की प्रवृत्ति पानी के प्रवाह जैसी ही है। उसी की तरह निरंतर और नित्य नूतन! और फिर, मनुष्य की सर्जनशीलता का आविष्कार भी किसी जलस्त्रोत के प्रस्फुटन से कम उत्स्फूर्त नहीं। इसीलिए मानवी अभिव्यक्ति की सहजता तथा उसके कथ्य की क्षणिकता मुझे सदैव पानी पर उठती लकीरों से समतुल्य लगती रही है। कदाचित मेरी कविता को अपनी चेतना इन्हीं से मिली है....और हाँ....अपना शीर्षक भी.... !

जहाँ तक याद है, कविता मेरे दिल के बेहद करीब रही है। अपितु, कहना मुश्किल है कि काव्य से मेरा परिचय कब और कैसे हुआ। निःसंदेह इस परिचय का प्रथम माध्यम कोंकणी लोकगीत था। बचपन में गाँव के माड (नारियल के पेड) से दिन में दो बार सूर (स्राव जिससे माड की शराब बनती है) निकालने वाला फरांशीक (फ्रांसिस्क) रेंदेर मेरा 'रोल मॉडेल' तथा दोस्त था।

माड की लंबी-लंबी शाखाओं में छुपकर जब वह दूदकें (मिट्टी का घडा)उठाकर जोर से फूँकता तो उसकी ध्वनि मेरे कानों को शंखनाद या किसी बिगुल के ध्वनि से कम प्रभावशाली नहीं लगती। फरांशीक अपने काम में जुड जाता... और अनायास ही उसके सुरीले कांतार (गीत) सारे परिसर को मंत्रमुग्ध कर देते। कम से कम मुझे तो ऐसा ही लगता। गर्मियों की छूट्टियों में लगातार यह सिलसिला सुबह-शाम अनुभव करने का मौका मुझे मिलता।

फरांशीक के ज्यादातर कांतार किसी लोकप्रिय 'तियात्र' (स्थानीय नाट्य प्रकार जो लोकनाट्य तथा इतालियन ऑपरा के मिलाफ से लगभग एक शतिपूर्व उभरा) से होते। परन्तु अचानक किसी रोज उस की अपनी प्रतिभा जग जाती...और कोई निहायत ही रसिला 'कवन' (गीत या शे'र) उसके होटों से उमड पडता। कभी वह प्रेम या विरह भाव से ओत-प्रोत रहता तो कभी हास्य-विनोद तथा उपहास-

व्यंग से युक्त। काव्य का आशय जानने की तो वह मेरी उम्र थी ही नहीं, लेकिन उन कांतारों का स्वरमाधुर्य, उनकी लयबद्धता तथा मनभावन अभिव्यक्ति के सौंदर्य का आनंद... मुझे आज भी याद है। लगता है कि शब्द, छंद और ताल के सामर्थ्य का एहसास मुझे शायद तभी हुआ...।

दस-बारह की उम्र में मुझे 'आल्लय' (लोरी) नामक अत्यंत विलोभनीय काव्य प्रकार का भरपूर आस्वाद लेने का दुर्लभ मौका मिला। ज्यादातर लोगों को लोरी सुनने का अवसर मुश्किल से साल-ढाई साल की उम्र तक मिलता है। लेकिन मुझ से दस साल छोटे अनुज को सुलाते-रिझाते घर की औरतें तमाम पारंपारिक लोरियाँ तो गातीं ही, लेकिन कईं नए-नए लोरियों का सर्जन भी कर देतीं। कभी पुरानी लोरी में नए अलंकार या नामोल्लेख पिरोये जाते तो कभी स्थिति-समयोचित आशय पुराने संदर्भों के साथ कुशलता से जोडा जाता।

इन आल्लयों में गोवा के ऐतिहासिक यथार्थ से जोडे संदर्भ मिलते, पारिवारिक या व्यक्तिसापेक्ष समस्याओं पर टिप्पणियाँ होतीं, कभी सामाजिक आदान-प्रदान या उथल-पुथल से निकले तथ्य उभरते। लेकिन एकाध 'आल्लय' केवल लाड-प्यार या माया-ममता का ही बखान करती।

याद है कि, इस दौरान मैंने एक बेहद लोकप्रिय मराठी अंगाई गीत (लोरी) भी कंठगत किया था जो बाल-शिवाजी को सुलाती जिजाबाई के संदर्भ में लिखा गया था। आज जब उस लोरी में उद्घाटित समकालीन तथ्य, ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा स्थानों के उल्लेख, उस में व्यक्त भाव-भावनाएं याद आती हैं, तब उस लोरी के प्रभाव के एहसास से अचंभित हो जाती हूँ। कितनी आसानी से बाल-मन काव्य से रस और ज्ञान के आशय सोख लेता है!

उन दिनों, जब भी मौका मिलता, हम लोग मार्च/फागुन के दरम्यान शिगमो (होली से जुडा शिशिरोत्सव)मनाने शहर से गाँव जाते। वहां विविध जाति-जनजातिओं के रोमट या पंगड (टोलियाँ) लोकनृत्य या लोकनाट्य प्रस्तुत करने हमारे द्वार पर आते। उन के प्रस्तुतिकरण में मुद्रा-विन्यास तथा शारिरीक जोश-चपलता के साथ-साथ अभिव्यक्ति की उत्स्फूर्तता, विनोद तथा भरपूर व्यंग होता। कभी गाँव की नारियों के सौंदर्य का बखान होता तो कभी भगवान की प्रेमलिलाओं का वर्णन, कभी गाँव के मूल्यों का गौरव, तो कभी सामाजिक अन्याय/विषमता पर तीव्र उपहास या रोष, कभी चोरी-चपाटी पर टिप्पणियां होतीं तो कभी साधु-महात्माओं का गुणगान।

शिगमो की यह लालित्यपूर्ण, काव्यमधुर प्रस्तुति लोककला का अनुठा संगम होता जहाँ काव्य और नृत्य का आकंठ पान करके हमारा बालमन तृप्त हो जाता। इन्हीं लोक-कलाकारों से मैंने जाना कि किस नीर-क्षीर विवेक से कवि-प्रतिभा अनुभव

विश्व से काव्याशय छँट लेती है और कैसे अपनी कल्पनाशक्ति से उसे शब्दों में उद्घाटित करती है।

मेरी प्राथमिक शिक्षा मराठी माध्यम में हुई। हालांकि, मेरी मातृभाषा कोंकणी है। पर गोवा मुक्ति (1961) के बाद ही कोंकणी स्कूल खुल पाए। पुर्तुगाली शासन व्यवस्था में कोंकणी पूर्णतया उपेक्षित तथा दबी रही। कुछ भी हो, मराठी अध्ययन से मेरा फायदा जरूर हुआ। कविता पठन को हमारे 'गुरुजी' अत्यधिक महत्व देते। इस लिए सारी कविताएं कंठोद्गत करने की हम बच्चों में होड रहती।

सौभाग्यवश, उस समय ज्यादातर कविताएं मराठी साहित्यविश्व के कण्ठमणिस्वरूप कवियों की लिखी हुआ करती थीं और लम्बे अर्से से पाठ्यक्रम में सम्मिलित रहतीं। कभी-कभार मेरी माँ कुछ कविताएं सुंदर धुनों पर गा के सुनातीं ताकि उन्हें मुखोद्गत करने में हमें आसानी हो। परिणामस्वरूप, ताल-छंद-मात्रा के कोष्टक से परिपूर्ण कुछ कविताएं कंठगत करने से अनायास ही भारतीय छंदशास्त्र से गर्भस्थ रिस्ता फिर से जुड गया। कई साल तक यही धुन रही कि जो भी कविता सामने आए उसे धुन में पिरोकर सूर में गाएं। ज्यादातर धुनें मराठी पुराण या स्त्रोत्र-पठन से या फिर अभंगवाणी या भजन-कीर्तन से मिल जातीं।

हिन्दी भाषा से मेरा अब तक पाला नहीं पडा था। हायस्कूल में प्रथमतः हिंदी भाषा ऐच्छिक विषय के रूप में ('तृतीय भाषा' के तहत) पाठ्यक्रम में शामिल हुई। तब कहीं सुमित्रानंदन पंत, सुर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', अज्ञेय, महादेवी वर्मा जैसे अनेकानेक कवियों ने अपनी गहरी छाप मन पर छोडी। लेकिन हिन्दी काव्य एवं साहित्य से नजदीकी रिस्ता पाठ्यक्रम से उतना नहीं बन पाया जितना मेरी प्रिय शिक्षिका श्रीमती जीवनबाय कारापूरकर के साहित्य प्रेम से मुझे अनायास ही धरोहर में मिला। वे खुद भरपूर किताबें पढती और हर नई किताब स्कूल लायब्रेरी को 'बडे भाई के स्मरणार्थ' भेंट कर देतीं। लाल स्याही में प्रथम पृष्ठ पर अंकित वे शब्द मेरे लिए एक विशेष न्यौता बन जाते- जल्द से जल्द वह नई किताब पढने के लिए....। उनकी इस अनोखी भेंट के कारण मैंने स्कूल की लायब्रेरी से न केवल हिन्दी साहित्याकारों की बल्कि कईं अनुवादित बाँगला साहित्यकारों की विख्यात कृतियों का जी भर के आस्वाद लिया।

मराठी साहित्य से तो मैं पहले से परिचित थी। मराठी में अनुवादित अंग्रेजी बाल साहित्य को भी मैंने सप्रेम अपनाया था। हायस्कूल में अध्यापन का प्रमुख माध्यम अंग्रेजी होने से शेक्सपियर, मिल्टन, वर्डस्वर्थ, कीटस, शेले, बायरन से दोस्ती हो गई। इस मिश्र पठन से मेरा बहुत फायदा हुआ। भारतीय शब्दावली, अभिव्यक्ति के देसी विन्यास, विदेशी प्रभावों के अंतर्गत भारतीय साहित्य में उभर आए पाठ्योगिक

तत्व तथा तथ्य-इन सबका आगे चलकर पश्चिमी शब्दावली, छंदशास्त्र, साहित्यविचार आदि के संदर्भ में तुलनात्मक अध्ययन करके समझ पाने का साहस हुआ। लेकिन यह करने के लिए अभी मेरे पास पर्याप्त जानकारी नहीं थी। वह सब कॉलेज की पढाई के बाद ही साध्य होना था और वैसा ही हुआ।

लेकिन इसी दौरान मेरी मुलाकात 'हिन्दी फिल्मों' से तथा रेडियो से हुई। यूँ तो पहले भी मैं कोंकणि तथा मराठी गीत रेडियो पर सुनती। लेकिन, 12-14 साल की उम्र में 'विविध भारती' तथा 'रेडियो सिलोन' सुनने का मुझे चस्का लगा। 'जयमाला', 'बिनाका गीत माला' के साथ-साथ गैर-फिल्मी गीत तथा 'अनुरंजनी' जैसे कार्यक्रम यकायक दिलपर छा गए। खास कर, अमीन सायानी की मीठी, जोशिली एवं सहजसुलभ शैली मन को यहां तक भा गई कि अनजाने में ही सही 'हिन्दुस्तानी' पर बेहद प्यार उमड आया।

हिन्दी का प्रेम तो था ही अब उर्दू अलफाज़ों ने दिल में जगह पा ली। दिनभर एक पागलपन सा दिल पर सवार रहता- कहीं से भी अगर कोई नया उर्दू लफ़्ज मिले तो तुरंत ही उसका संदर्भ तथा अर्थ समझकर किसी जवाहरात के माफिक उसको दिल की तिजोरी में संभाल के रखूँ। यह जुनून आज भी कायम है, बशर्ते उस की तीव्रता कुछ घटी है।

बचपन में 'नवनीत', 'अमृत' आदि मराठी पत्रिकाएं घर पर आतीं। कईं बार उन में मराठी अन्वयार्थ के साथ उर्दू शे'र छपते। धीरे-धीरे उर्दू से एक अजीबो-गरीब अपनापन का नाता जुड गया। फ़ारसी-अरबी लिपि तो मैं अपना न पाई लेकिन जहाँ भी नागरी लिपि में उर्दू शायरी मिल जाती मैं उसे अवश्य हासिल करती। इस में रेल्वे प्लैटफार्म पर तथा फूटपाथों पर बिकती किताबों ने मेरा बहुत बडा उपकार किया है।

एक दिन 'उर्दू के अदीब' नामक किताब (शायद श्री.ज. जोशी द्वारा लिखित?) हाथ लगी और अचानक मीर, ज़फ़र, ज़ौक, ग़ालिब, हाली, हाफिज़, जिग़र आदि शायर उसी तरह मेरे करीब आ गए जिस तरह दूरबिन के माध्यम से सितारे पास आते हैं। अब तो उन के साथ-साथ साहिर लुधियानवी, शकील बदायुनी, शैलेंद्र, कैफ़ी आज़मी, प्रदीप आदी (फिल्म जगत से जुडे) शायर भी 'मेरे अपने' बने हैं। मैं काव्य के आँगन में अपने-पराए का परहेज नहीं रखती। फिर वह फिल्म से या साहित्य से आरोपित अलगाव ही क्यों न हो? प्रतिभा आखिर प्रतिभा है... जैसे मिले...जहाँ से मिले....!

कवि प्रतिभा की एक खासियत (या मानो कोई असहायता) होती है- कभी

न कभी वह प्रतिभा कवि से खुद पर या कविता पर कुछ न कुछ टिप्पणी जरूर करवाती है। मुझे हमेशा काव्य की प्रकृति, स्वरूप, कवि की शैली, दूसरे कवि की महानता या त्रुटि आदि विषयों पर होती टिप्पणियाँ या उल्लेख बहुत अच्छे लगते हैं। इस के सब से सुन्दर उदाहरण मैंने शैक्सपियर तथा ग़ालिब् की कविता में पाए हैं।

हालांकि, यहाँ यह कहना आवश्यक है कि ग़ालिब् की शायरी से मेरा मेलजोल उतना भी गहरा नहीं जितना शैक्सपियर के नाटक तथा कविताओं से है! फिर भी असाधारण प्रतिभाशाली कवि की ओर से मिलने वाला मात्र इशारा भी सामान्य साहित्यकारों के बडे-बडे आलेखों से ज्यादा असरदार होता है। कभी-कभी यह इशारा पाठक के दिल में किसी तीर की तरह उतर जाता है और उसे सोचने समझने पर, और हो सके तो, कलम उठाकर लिखने पर मजबूर कर देता है। यही मेरे साथ हुआ...।

कविता-लेखन से कब मेरी भीडंत हुई और कब उसने मेरी युवा सर्जनक्षमता को वश में कर लिया, यह कहना संभव नहीं। बल्कि 3-4 साल की कठोर 'मज़दूरी' के पश्चात, मैंने अपनी कविताओं को कागज़ के चिठोरों पर आखरी दम तोडने से बचाना आरम्भ कर दिया। 1972 के आस-पास....। जब 8-10 काव्य प्रयास कचरे की कुण्डी में शहीद हो जाते तब कहीं एकाध कविता को डायरी में जगह मिल पाती।

लिखने में सदैव ही मैंने आस्था बनाए रखी है। भाषा, संस्कृति तथा प्रदेश की बौनी रेखाओं के पार जाकर कविता को अपनाने का दिल से प्रयास किया है। फिर भी मेरी शुरूआती कविताओं पर उर्दू शब्दावलि तथा लहजे का प्रभाव विशेष मात्रा में दिखाई देता है। इसलिए उन कविताओं को मैं 'हिन्दुस्तानी' कविताएं मानती हूँ। इस तरह की कविता लिखने का सिलसिला स्नातकोत्तर पढाई पूरी होने तक 8-10 साल तक जारी रहा।

फिर मैंने अंग्रेजी पढाना शुरू कर दिया। शायद इस दौरान दिनबदिन मुझ पर होते अंग्रेजी साहित्य-आलोचना-छंदशास्त्र के अध्ययन के संस्कारों से अचानक मेरी कविता ने विदेशी जामा पहना लिया। 1980-82 के आस-पास तो मेरी कविता बडी बेसबरी से खुद को अंग्रेजी में अभिव्यक्त करती रही। यह प्रयास 1994 तक जारी रहा।

इसी समय मैंने अपनी मातृभाषा कोंकणी में आलेख लिखना शुरू किया। साथ ही साहित्य विचार पर एक-दो किताबें लिखना जारी था। थोडा बहुत ललित लेखन भी होता रहा। अचानक 1995 में मैंने अपनी पहली कोंकणी कविता लिख डाली।

मुझे सब से ज्यादा प्रभावित करने वाले कोंकणी कवि थे बाकीबाब बोरकार और मनोहरराय सरदेसाय। आज भी ये दोनों कविवर- जो अब इस दुनिया में नहीं रहे- मेरे पथ प्रदर्शक हैं। परन्तु इनकी शैली का असर मुझ पर मुझे तो महसूस नहीं होता। वे मेरे स्फूर्तिस्थान जरूर हैं। इसी स्फूर्ति की बदौलत आज एक अहिन्दी भाषी व्यक्ति अपनी कविताएं प्रकाशित करने का ढ़ाढ़स बंधा पाई है।

आज-कल मेरी कविता ज्यादातर कोंकणी में प्रकट होना पसंद करती है। फिर भी कभी-कभार वह आशय-विषय के अनुरूप दूसरी भाषा का दामन भी थाम लेती है। कभी-कभी एकाध कविता इतनी हठीली बन जाती है कि एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवादित होने से साफ मना कर देती है।

अब के कविता मुझ पर दुर्लभता से प्रसन्न हो जाती है। फिर भी, मेरी कविता ही मेरी सब से नजदीकी दोस्त तथा रहनुमा है। जब वह मुझपर अनुग्रह नहीं करती, मैं बिन पानी के मछली जैसी छटपटाती रह जाती हूँ।

मुझे मालूम है कि मेरी कविता शायद ही कोई लक्षणीय छाप अपने पीछे छोड जाए। उसका न कोई 'स्कूल' है न कोई खास मिज़ाज। उसके कारण काव्य-जगत में न कोई उथल-पुथल संभव है, न ही कोई क्रांति। वह तो मात्र एक क्षणजीवी लकीर है जो जीवन के प्रवाह पर मेरी संवेदनशीलता ने खींचनी चाही है।

वह पानी की तरह ही है। बेरंग और आर-पार। उस की इसी खासियत ने मुझे हरदम प्रोत्साहित भी किया है और विवश भी... कागज की सतह पर एहसास की प्रतिमाएं अंकित कर देने को...। आशा है, वे पाठक की दिलचस्पी को भी थोडा-बहुत उकसा पाएंगी....।

- किरण बुडकुले 'रश्मिरथी'

अनुक्रमणिका

1.	वर्तमान (1972)	1
2.	ग़म से (1972)	2
3.	हाल-ए-वतन(1973)	4
4.	आज (1973)	6
5.	ग़र मुझ से पूछा जाए (1974)	7
6.	बेवफा सहेली से (1974)	9
7.	क्यों ? (1975)	11
8.	हस्ती मेरी (1975)	13
9.	हरियाली (1975)	15
10.	रहनुमा (1975)	17
11.	सवाल (1976)	19
12.	दिवला (1976)	21
13.	मैं एक फ़नकार (1977)	22
14.	सहारा (1977)	24
15.	शायरी (1977)	25
16.	नुमाईश (1977)	26
17.	दुआ (1977)	27
18.	कैद (1977)	28
19.	दरीचा (1978)	29
20.	जुवा (1978)	30
21.	अफ़सोस (1978)	31

22. कमान (1978) 32
23. गागर में सागर (1978) 33
24. क़सम से (1978) 34
25. अलविदा (1978) 35
26. ग़म का बहाना (1979) 37
27. मुहब्बत और साकी (1979) 38
28. अनकही दास्तां...साकी की... (1979) 39
29. हँसी (1979) 41
30. आपबीती (1979) 43
31. किसी अनदेखी मूरत से... (1979) 45
32. इल्तिजा (1979) 47
33. ख़ाब बुनाई (1980) 48
34. उल्टी बात (1980) 49
35. जिद् (1980) 50
36. मुबारकबाद (1980) 51
37. गहराइयाँ (1982) 52
38. दिवाली आ चुकी है (1998) 55
39. आज के शायर से (1999) 57
40. दिल-ए-नादान (1999) 59
41. फ़ानूस (2000) 60
42. गुमनाम गाँव (2002) 62
43. अतीत... दो एहसास... (2003) 65
44. अग्निपुष्प (2003) 68
45. हे स्वतंत्रते! (2004) 70
46. हार की बिसात (2004) 73
47. अदालत (2004) 75
48. विद्रोह (2005) 77
49. वह एक रात... (2005) 79
50. विराम चिन्ह (2005) 81